

# प्राथमिकी

समकालीन हिन्दी साहित्य  
का  
एक तटस्थ अध्ययन

बदरी नारायण सिन्हा

# प्राथमिकी

(समकालीन हिन्दी साहित्य का एक तटस्थ अध्ययन)

लेखक

बदरी नारायण सिन्हा

श्री गणपत प्रकाशन

पटना-1

प्रकाशक

श्री गणपत प्रकाशन,

पटना

१९६५ ई०

संवत्

[ सर्वाधिकार लेखक के अधीन ]

मूल्य १०)

ॐ

## प्राक्कथन

'प्राथमिकी' आपके समक्ष है : हिन्दी साहित्य के बीस बर्षों की हलचलों और गतिविधियों के अध्ययन का पहला भाग, सन १९४४ से सन १९६४ तक की रूपरेखा का प्रथम अंश ।

॥ ॐ ॥

## प्राथमिकी

मैं कायल हूँ इस कथन का, जो मौलिक स्त्रष्टा नहीं हो सकता, वह आलोचक बन जाता है। यह इतना ही सत्य है, जितना यह कथन, करना कठिन है, कहना सहज ।

फिर भी, यदि कालिदास, कबीर, प्रसाद, निराला या होमर, शेक्सपीयर इत्यादि की कृतियां हमारी हैं, तो मनु, अरस्तु, इलियट, राम चन्द्र शुक्ल की भी सूक्तियाँ कम स्मरणीय नहीं, क्यों कि साहित्य की साधना मूल रचयिता और आलोचक दोनों ही करते । इसके अतिरिक्त पाठकों का योगदान भी कम अपेक्षित नहीं विशेष कर मुद्रण के बाद, जब साहित्य स्वान्तःसुखाय की परिधि से निकल कर बहुजन हिताय की मान्यताओं से जकड़ गया, श्रुति, स्मृति की स्थिति से उठकर मनन, चिंतन, प्रेरण, मनोरंजन का सर्वोपरि माध्यम बन गया ।

‘प्राथमिकी’ आपके समक्ष है : हिन्दी साहित्य के बीस बर्षों की हलचलों और गतिविधियों के अध्ययन का पहला भाग, सन ४४ से सन ६४ तक की रूपरेखा का प्रथम अंश । इस अवधि में देश, समाज, राजनीति, राज्यों के चित्र जिस तरह बदले हैं, उस तरह साहित्य के भी । “भारत-भारती” और “एक पुष्प की अभिलाषा” जैसी सीधी उन्मुक्त भावनाओं से प्रज्वलित होकर हिन्दी साहित्य “गोदान”, “गुंजन”, “नीरजा”, “परिमल”, “हूँकार”, “शेखरः एक जीवनी” में अपनी उदात्त शक्ति पा चुका था । कोरी तुकबन्दी की कर्कश ध्वनि, मधुर, प्रवाहपूर्ण लय में परिवर्तित ही चुकी थी, समाज एवम राजनीति के कर्णधार साहित्य का सृजन कर संतुष्ट होते थे । पाश्चात्य ज्ञान-राशि और अपनी विषुल राशि के अपने अपने खिंचाव थे, जिनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब साहित्य में उतरता था । भाषा हिन्दुस्तानी के भगड़े में पड़ी थी । फिर देश को स्वतंत्रता मिली, परन्तु विभाजन के साथ । समाज में जो विभीषिका आई, उसका धक्का साहित्य को भी लगा । “भूठा सच” में एक ऐतिहासिक परन्तु साहित्य के सच्चे रूप का दिग्दर्शन हमें मिला । प्रत्येक काव्य या उपन्यास भूठा सच ही है । हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद मिला, पर एक बड़े उत्तरदायित्व के साथ । शासकीय प्रोत्साहन से किसी साहित्य की कितनी समृद्धि हो सकती है, उसका उदाहरण तो स्वयं अंग्रेजी ही है । इस प्रोत्साहन से धर्म की भी वृद्धि संसार में हुई है, हां, अपने देश में नहीं । अशोक ने राज स

ता से नहीं अपितु प्रेम से बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। हमारे वर्तमान शासकों ने भी हिन्दी के प्रति इसी परम्परा का पालन किया है। डाक्टर रघुवीर के भीमकाय शब्द-कोष अथवा अन्य भाषा पंडितों के निर्धारित भाषा-स्तर ने हिन्दी का रूप बदला नहीं केवल इसलिए कि भाषा की जननी होती है बोलचाल की भाषा, जिसकी न अवधि कि और न परिधी निश्चित होती है। डॉ० रघुवीर के पंथगामियों की बहस या सरकारी विज्ञप्तियों के चाबुक से भाषा न बन सकी और न बन सकेगी। लिखित भाषा बोल की भाषा की अनुगामिनी होती है और इसके स्त्रष्टा होते हैं सचेत लोखक। आज हिन्दी में अरबी, फारसी, संस्कृत, फ्रेंच, पुर्तगाली, अंग्रेजी और भारत की विभिन्न भाषाओं के शब्द घड़ल्ले से प्रयोग में आ रहे हैं। किस बहस या चाबुक या चाबुक के फलस्वरूप ? सर्वग्राह्य संस्कृति तो अपने आधार पर आश्रित रहकर भी सर्वग्राह्य उपकरणों को पचा लेती है। हिन्दी भाषा का यह विकास अत्यन्त ही मननीय है।

आज सार्वलौकिकता का समय है। राष्ट्रियता, अन्तराष्ट्रियता भी गौण हो चली है, सर्वत्र विश्व-बन्धुत्व के नारे बुलन्द हो रहे हैं। सामीप्य की ओर अग्रसर, बाह्यजगत, काल, दिशा की विजय की ओर उन्मुख पीढ़ी हर दायरे में सक्रिय है। हिन्दी कैसे तटस्थ रह सकती। कहते हैं, विज्ञान का वर्णन हिन्दी में संभव नहीं। सत्य है इसके मूल ग्रन्थ हिन्दी में नहीं लिखे जाते और न हैं, परन्तु क्षमता इसमें उतनी ही है जितनी अन्य भाषाओं में। शासकीय प्रोत्साहन और समाज के योगदान से किसी भी साहित्य का संगठन सुचारु और सबल हो सकता है।

साहित्यकार एक रचना द्वारा ही पथ-प्रदर्शक बन सकता है, न कि रचनाओं के कोरे बाहुल्य से। मौलिकता नवीनता का पर्याय नहीं। समाज के तत्कालीन रूपों के प्रति जैसी जागरूकता प्रेमचन्द में थी, वह उनकी अपनी विभूति थी। आज उस कथानक के लिखने वाले बहुत हैं, पर कितने के चिन्ह उग गये। फिर, लोकप्रियता और कलानिष्ठा दोनों पर्याय नहीं, यद्यपि कलानिष्ठ साहित्य कालांतर में लोकप्रिय अवश्य हो जाता है। जैसा समाज होगा, वैसा साहित्य भी है। इतिहास के पन्ने न रहें, सही, पर साहित्य है तो इतिहास भी है। सच्चा साहित्यकार कलानिष्ठ, जागरूक, शैली-स्त्रष्टा और प्रभावकारी एक साथ होता है, परन्तु सर्वलोकप्रिय न हो पाये, यह संभव है। मैथिलीशरण लोकप्रिय अधिक थे, निराला कलानिष्ठ अधिक, पर दोनों के स्तर तुल्य नहीं।

हिन्दी साहित्य के जिन दशकों का उल्लेख इस पुस्तक और इसकी पूरक पुस्तकों में प्रस्तुत है, उनमें शब्द-कौशल देखने को मिले हैं। शब्द के दो मूल्य होते, एक जो शब्द-कोष में वर्णित होते और दूसरा जो उस शब्द के प्रचलत, प्रयोग और परिमार्जन से जुट जाता है। प्रति शब्द का एक निजी इतिहास होता है। वह दिन हमारे लिए सुन्दर होगा जिस दिन हिन्दी के शब्दों का वह रोमांस भरा इतिहास लिखा जायेगा। सफल शब्दों का संकलन दोनों मान्यताओं को लेकर लोखक करता है। भाषा का उद्गम एवं विकास भी तब ही संभव है। इसे ही सजीव भाषा कहते हैं। हिन्दी आलोचना में संस्कृत के शास्त्रों द्वारा मनोनीत मापदण्ड के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के

बहुत से शब्दों ने घर कर लिया है। इसे बहुतों ने अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का द्योतक माना है, कहीं-कहीं हय सत् य है परन्तु हय स्वाभाविक है, हमारे संपर्क, जीवित तादात्म्य का परिचायक है, हमारी सर्वग्राह्य संस्कृति का फूल है। प्रेमचन्द ने सीधे-साद शब्दों का ही प्रयोग किया। वह भी एक कला है। निरला ने इतने प्रयोग किये कि कहीं-कहीं दुरुह भी हो गये, परन्तु हिन्दी कविता को सबसे अधिक सबलता उन्हीं ग्रयोगों से मिली। प्रसाद ने खड़ी बोली की मधुरिमा निखार दी, पंत ने शब्दों का कोमल विन्यास किया, यद्यपि मौलिकता का श्रेय उन्हें नहीं मिला। महादंवी ने शब्दों का मर्मरपर्शी विन्यास तो किया, परन्तु उनकी भाव-एक रूपता तथा रूपक एवं प्रतीक की पुनरावृत्ति ने पद्यों की जान ले ली। नवीन और बच्चन ने एक-एक रचना में ही अपनी प्रतिमा समाप्त जैसी कर दी। दिनकर ने ओज शब्दों में भरा और बरकरार भी रखा है। नेपाली ने शब्द-चातुर्य दिखलाया, दोनों मूल्यवाले शब्दों का आश्रय लिया तो अवश्य, पर एक ही सीमित दायरे में और साहित्य के बाहर भी। "मैला आंचल" में जीवित भाषा का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ और रेणु की शैली का परम चमत्कार टकसाल शब्दों में है। हिन्दी भाषा के भावी रूप की भलक इनकी रचनाओं में मिलती है। कोई भी आलोचना भाषा के बल को स्वीकार किये बिना यथेष्ट नहीं हो सकती। मैंने हिन्दी-साहित्य की प्रगति शैली, भाव-व्यंजना में ही नहीं देखी है वरन् भाषा के प्रस्फुटन में भी। भाषा न बोमिल, न क्लिष्ट होनी चाहिए। भाषा जीवित और टकसाल होनी चाहिए।

न कोई वात, न कोई प्रतिपादित धारा ही सच्चे अर्थात् सफल साहित्य का जन्म दे सकती है। और सफल साहित्य का सृजन एक धटना होता है और परम्पर वहीं से शुरू होती है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, मैथिलीशरण, ने खड़ी बोली में, कविता लिखकर एक परिपाटी चलाई। विज्ञान के चमत्कार में हरिऔध में पौराणिक कथा के प्राण अलौकिकता-का ही बंध कर डाला, उनका "प्रिय-प्रवास" बूद्धि को रुचिकर भले जंचा हो, परन्तु उसका मूल्य केवल है खड़ी बोली में, प्रथम महाकाव्य होना या उसका भायावह बनावटी शब्द-जाल। "कामायनी" प्रबन्ध, प्रतीक महाकाव्य का उदात्त एवं सफल रूप है। उस समय तक हमारी हिन्दी कविता संसार के इने-गिने सफल प्रयासों को प्राप्त कर चुकी थी। उल्लिखित दशकों में भी महाकाव्य से विभूषित ग्रन्थ आगे हैं, परन्तु "कामायनी" के बाद हिन्दी में एक भी तात्त्विक महाकाव्य नहीं आया है। रूप है, काया है, पर स्पन्दन नहीं, शौर्य नहीं। यह मिराश का विषय नहीं। साहित्य ही क्यों, अन्य () में भी कृतियां जल्द-जल्द नहीं आतीं। मुझे किसी भी कलाकार से इसके लिए क्षोभ भी नहीं है। परम्परा स्त्रष्टाओं की तालिका लम्बी नहीं हो सकती। हिन्दी साहित्य में तो अभी वर्तमान भाषा का प्रयोग एक शताब्दी पुराना भी नहीं हुआ है। अन्य साहित्य को ही ले लें।

हिन्दी साहित्य का आकार बहुत बढ़ा है, प्रति अंग में। इसे कोई भी किसी पुस्तकागार में देख सकता है। इसकी खपत भी बढ़ी है। यह पाठ्य भी हो गया है। परन्तु इसमें कितनी रचनायें साहित्य की कसौटी पर टिक सकती हैं, यह अनुसन्धान, गवेषणा और आलोचना का विषय है।

साहित्य के दो रूप होते, एक उपयोगी और दूसरा उपयोगी तो सही परन्तु मृदुल रूप । कविता मनुष्य की सबसे पुरानी अभिव्यक्ति है, किंचित इसका जन्म मां की गोत में या पैगम्बलों की जिह्वा पर ही हुआ था । स्मृति और श्रुति के सहज कारणों से इसका प्रसार हुआ । तुकबन्दी इसका प्रथम ऐश्वर्य थी, फिर मेल-मिलता की कृत्रिमता तजकर इसने धारा प्रवाह में, अतुकान्त में, अपने को निखारा और संस्कृत, लेटिन, प्रोक, फ्रेंच, अंग्रेजी में, इसका यह ज्वलंत रूप बड़े-बड़े काव्यों, नाटकों में आया । हिन्दी में अतुकांत कविता के अभी पचास वर्षों से अधिक नहीं हुए हैं । संसार के मनीषी कवियों ने अतुकान्त पद्यों में अपने भाव व्यक्त किए हैं । हमारे मनीषी कवि निराला ने अपनी प्रथम भेंट हिन्दी को 'जुही की कली' इसी छन्द के प्रौढ़ रूप-मुक्त छंद में दी थी और एक क्रांति लाई थी जो उस समय खड़ी बोली की शुरुआत की घड़ियों में एक अद्भुत घटना थी । आज उस परम्परा को बहुतों ने आगे बढ़ाया है । अतुकान्त छन्दों का आविर्भाव भाषा के पौरुष का चिह्न है । इसी प्रकार "एक-समय-की-बात है" वाली कथा-शैली से आरम्भ होकर हमारा कथा-साहित्य पात्र के केवल मस्तिष्क-जाल के विश्लेषण पर केन्द्रित रहने लगा है । युग की कथा जिसमें वर्णित है, वही महाकाव्य है, भले ही वह पद्य में न लिखा गया हो । "शेखर : एक जीवनी" और "मैला आंचल" युग के महाकाव्य हैं । पर साहित्य अब काव्य, कथा तक ही सीमित नहीं, गवेषणा और चिंतना का भी सार है । यही उसका उपयोगी रूप है, भौतिक रूप है । जब हमारे दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्रज्ञ, इतिहासकार, समाज-शास्त्री हिन्दी में ही लिख कर अपने विचार रखेंगे, हमारे साहित्य का व्यावहारिक रूप निखर पायेगा । वे दिन अभी पूरे आने को ही हैं । हां, "संस्कृति के चार अध्याय" इस दिशा में एक घटना है । यों तो काव्य और कथा द्वारा भी लेखक समाज को अपनी चेतनायें देता है, फिर भी मृदुल रूप का त्याग कर नहीं और जहां तज देता है, वहां पाठकगण ही उसे त्याग्य कर देते । प्रकाशन के साथ-साथ लेखक अपनी 'स्वान्त : सुखाय' सत्ता को खो देता है । वह जनसमुदाय की अभिरुचि, प्रेरणा, स्वीकारोक्ति का प्राप्ति हो जाता है, हालांकि सच्चा साहित्यकार अपनी ओर उस समुदाय को भी मोड़ लेता है । "जुही की कली" इसका ही दृष्टांत है ।

कविता से अधिक प्रचलित गद्य है । एक समय था जब आयुर्वेद, गणित की सूक्तियां भी पद्यबद्ध ही होती थी, दर्शन का गांभीर्य काव्य में मुशरित होता था परन्तु आज मनुष्य की कोमल से कोमल भामनाएँ गद्य में व्यक्त की जाती हैं । शेक्सपीयर के दिनों बेकन ने निबंध लिखकर अंग्रेजी गद्य का स्तर ऊंचा किया था । रूसो की क्रांतिकारिणी वाणी गद्य में फूटी थी । हमारे महारथी महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पद्य और गद्य दोनों लिखे, पद्य-प्रदर्शक की हैसियत से । प्रसाद, निराला, महादेवी, इत्यादि ने भी इस माध्यम का आश्रय लिया है । हमारी वर्तमान पत्रिकाओं में गद्य की कृतियां सार्वभौम रहती हैं । कथा साहित्य ते इसमें ही विस्तृत हुआ है । यह सत्य है मनुष्य की स्वप्निल और उड़ान भरी कल्पनाएँ साकार गद्य में भी हुई हैं और कहीं-कहीं तो लय, स्पन्दन और प्रतीक इतने सबल हो पड़े हैं कि इन्हें गद्यकाव्य भी कहा जाने लगा है । इसका अध्ययन भी अतः अपेक्षित है ।

साहित्य में आजगीत, लघुकथा, एकांकी नाटक, निबन्ध, स्कन्ध या संस्मरण ने महाकाव्य, उपन्यास, नाटक, गवेषणा-ग्रंथ, आत्मकथा या जीवन-वृत्तान्त को तिरोहित किया है । इसका अर्थ यह नहीं कि पूर्व रूपों



के छोटे आकार हो चले हैं, बल्कि समय और समाज के तकाजों में नये-नये रूप आ ढले हैं और इनके माध्यम से मनुष्य मानसिक और हार्दिक अभक्तियां करने लगा है। जीवन की एक ही मार्मिक घड़ी, एक ही अनुभूति, एक ही विचार-धारा साहित्यकार का प्रेरण-स्त्रोत बन जाती है जिसे वह अपने शब्दों और प्रतीकों द्वारा प्रकट करता है। प्रति गीत, लघुकथा, एकांकी नाटक, निबन्ध अपनी इकाई में पूर्ण हैं जिसमें प्रभाव की एकता होती है। चार-पांच नपे-तुले शब्द ही इतना कह जाते जितना एक मोटी पुस्तक। दो दशकों में इनकी प्रचुर उपज हुई है। इनमें अपने देश की बढ़ती देखता हैं, साथ ही हमारी भाषा का सशक्त होना। भाषा वह पत्थर है जो प्रयोग के प्रवाह में घिसकर, चिकनी, सुथरी और मनोरम होकर बोलने लगती है। सफल साहित्यकार इन्हें बारीकी से चुनता है और हमारे मर्म को स्पर्श करता है। सौचा ते सिर्फ द्रष्टव्य है, उसके भीतर कुहुकती आत्मा होती है। जिन कवियों, नाटककारों, कहानीकारों, निबंधकों ने इन्हें पहचाना, वे ही अग्रसर हैं, साहित्य के सच्चे सेवक हैं।

साहित्य में कहने के ढंग को लेकर भी बहुत विवाद आये हैं। अब तो हिन्दी में इसे तकनीक के नाम से पूरा अपना भी लिया गया है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के किसी भी साहित्य, विशेषकर पाश्चात्य, की उल्लेखनीय घटना है जिसके मौलिक दायक अनुगामियों की भीड़ में भुला भी दिये गये हैं। इब्सन, जेम्स ज्वास, एजरा पाउन्ड, वरनार्डशा, इत्यादि ने भाषा के साथ जो प्रयोग किये उनके पीछे ढंग का निरालापन था और समाज का कौतूहल-जन्य स्वागत। "शेखर : एक जीवनी" भी हिन्दी में इसी पृष्ठभूमि पर निशरा। 'एक-दिन की बात वाली प्रणाली मनुष्य के एक ही अनुभूति-केन्द्र पर टकरा-टकरा कर घटनेवाली जीवन कथा की भांकी में परिणत हो गई। साहित्य में ही नहीं, ललित कलाओं के अन्य अंगों में भी, यह निरालापन ही बोल पाने लगा। प्रभाव, संकेत, प्रतीक, अपने ही इतने संचित और सक्रिय होने लगे कि भाषा का साधारण क्रम, प्राँजल रूप भी त्याज्य हो गया। हां, इस ढंग की सादकता ने उदीयमान और बनने साहित्यकारों को कुंठित भी बहुत किया है, बहुधा माध्यम ही ध्यय हो गया है, दुरुहता बढ़ गई है। इसकी भी बिबेचना बहुत अनिवार्य है। एक उपलब्धि अवश्य हुई है। इस ढंग की शक्ति के कारण भाषा की परिधि बहुत बिस्तृत हो चली है, नये-नये रूपक, प्रतीक, नई-नई उपमा, तुलना का प्रातुर्भाव हुआ है, कोप से बाहर प्रचलित शब्द अन्दर आकर आदर पा सके हैं, भाषा अपनी जननी बोलचाल के समीप हो सकी है।

चूँकि वर्गीकरण बोधगम्य होता है, यह आलोचकों को लुभाला रहा है। फलस्वरूप, किसी कृति को एक संज्ञा देकर ही समीक्षा की पराकाष्ठा समझ ली गई है। स्वच्छंदनावाद, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अनुकृतिवाद, अनगिनत संज्ञाओं ने घर कर लिया है। हिन्दी समीक्षा-प्रणाली के इस उग्र पक्ष पर पाश्चात्य साहित्य और समीक्षा - पद्धति का भी प्रतिविम्ब है। हमारे रस मर्मज्ञों ने भी काव्य और नाटक का वर्गीकरण नौ रसों में ही किया है। वाल्मीकि का "मा निपाद प्रतिष्ठा" श्लोक, भरत नाट्यशास्त्र, पाणिनी की अष्टाध्यायी, इत्यादि हमारे आदर्शों ने मनुष्य की साहित्य-जन्म प्रतिक्रियाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही किया है जिसकी सन्नता, बारीकी और उपकरणों का विलगाव वैज्ञानिक के स्तर से तुल्य है। यदि रस को अनुभूति का पर्याय मान लें, जिसके योग में आते हैं स्थायी भाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव, तो यह सत्य आज के मनोवैज्ञ

निक युग में भी ठोस रहेगा और अतएव, ग्राह्य । प्रति युग को आंकने का अपना एक यंत्र होता है । बीसवीं सदी का यह यंत्र मनोविज्ञान ही रहा है । इसका आधिपत्य साहित्य के प्रति अंग पर छाया है । पर मनोविज्ञान की घटनाएं युग-युग की संतती हैं : हां, उनका उद्घोष इस सदी में विशेष हुआ, यह दूसरी बात है । पुराने और नये साहित्यकारों ने अपनी-अपनी परख से मनुष्य की क्रियाओं का अनवरत अध्ययन किया है । कवि, नाटककार, उपन्यासकार तो अनुभवी मनोवैज्ञानिक ही होता । चिरंतन साहित्य की निधि है तन-तन की गूढ़ विवेचना । आज सामयिक, अनएव नश्वर कहे जानेवाले, साहित्य का विवाद हमें अनर्गल धाराओं की ओर बहका रहा है । कारण, प्रति साहित्य में चिरंतन तथा सामयिक तथ्यों का योग रहता है । मनुष्य परिचायक है । समय, समाज से साहित्यकार प्रेरण न ले तो उसकी अनुभूतियां गहन हे नहीं सकतीं । चिरंतन या सामयिक वर्गीकरण की दो मिथ्या, अवाछनीय समान्यतायें हैं । प्रेमचंद्र और रेणु बिलकुल सामयिक रहे हैं, इनके कथानक सामाजिक इतिहास के पन्नों से उद्धृत जैसे हैं परन्तु मनुष्य के इतिहास, जीवन में संघर्ष और होड़ लेनेवाली शक्तियों का प्रतिनिधित्व इनमें है । यथार्थवाद और आदर्शवाद के वर्गीकरण ने साहित्य पर कड़ा आघात किया है । साहित्य का मूल्यांकन उसकी कथन-शक्ति और कथन-सामाग्री द्वारा ही किया जा सकता है । जहाँ किसी रचना का प्रकाशन हुआ, रचनाकार क्या और कैसे कहता है, हमारे लिए का विषय बन जाता है । () के पूर्व की कवितायें परतंत्रता के बोध से दबी हैं पर उनके उच्छ्वास जीवित आत्मा के स्वर हैं । मैं किसी रचना को उसके प्रकाशनकाल की पृष्ठभूमि में देखने का समर्थक हूँ । भारतीय समाज के दैन्य, नैराश्य की भांकी मध्यकालीन कवियों और सन्तों की वाणी में समान रूप से मिलती है । विवशता की चरम सीमा पर पहुँची आकुल पीढ़ियों का आर्तनाद भजन में सुन पड़ा । उसी प्रकार बीसवीं सदी में जर्जर पर सर्वत्र आच्छादित समाज-श्रृंखला और कूर शासन-व्यवस्था का विरोध बलिदान की ओजमरी भावनाओं में व्यक्त हुआ । पर इससे क्या इनका मूल्य घटा । कदापि नहीं । किसी भी साहित्य को लें : सफल साहित्य से मेरा अर्थ है, वह एक साथ ही सामयिक और चिरंतन होगा । मानव की मूल भावनायें न बतली हैं और न बतलेंगी । काम, क्रोध, लोभ, भय, मोह, राग, विराग, त्याग इत्यादि सतत हैं, वाह्य जगत और समाज, रूढ़ि, श्रृंखला, परम्परा, परिवर्तनशील हैं । साहित्यकार की दृष्टि अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी दोनों होती हैं । प्रेमचन्द्र के कथानक-साहित्य और राष्ट्र के जय-गान यथार्थवाद, अदर्शवाद, प्रगतिवाद की दल-दल में अनावश्यक ही उलभा दिए गये थे । प्रसाद में सावयिकता का गान नहीं था, परन्तु पौराणिक कथाओं के प्रति इनकी आसक्ति, आर्य संस्कृति का यश-वर्णन, हमारी उस समय की पीढ़ी की राजनीतिक एवम समाज-उन्नायक चेष्टाओं में संस्कृत-परंपराओं का नैसर्गिक जोर है, पाश्चात्य साहित्य के भी दृष्टिकोण प्रतिपादित हैं, प्रसाद, माधुर्य, सौंदर्यांकन के गुणों की गूँज है, काव्य और नाटक के चमत्कारों का प्रदर्शन है, आदर्शवाद का समर्थन है, हितोपदेशाय रचनाओं का स्वागत है, हिन्दी पद्य और गद्य के तत्कालीन नमूनों का संकेत है, रस का सांगोपांग वर्णन है परन्तु समीक्षा के सभी उपादान नहीं । इसकी पूरक रचना है, हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, गुलाबराय की विविध पुस्तके, साहित्य-संदेश की बहुत सी प्रतिलिपिया, सुधीन्द्र, रामविलास शर्मा, नगेंद्र, नलिनविलोचन शर्मा की स्फुट आलोचनायो, जिनमें हिन्दी समीक्षा का उत्कर्ष बहुत अंशों में देखा जा सकता है, जिनमें विस्मय-सूचक अभिव्यक्तियों से ऊपर उठे गद्य का निखरा विन्यास पाया जाता । "हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी" के सभी लेख () तक प्रकाशित हो चुके थे । य

द्यपि इस पुस्तक का प्रकाशन सन ( ) में ही हुआ, तथापि इसको उदात्त शैली और विश्लेषणात्मक प्रणाली, साहित्य के मूल तत्वों का प्रकाश, एक घटना अवश्य है, पर बाजपेयी का गद्य अंग्रेजी की चकाचौंध से परिपूर्ण है। फिर, अंग्रेजी के शब्दों का क्लिष्ट अनुबाद या पूर्णतः अपनाये गये शब्दों का बेरोक प्रयोग अधिकांशतः होने लगा। इसकी विवेचना भी आवश्यक है। समीक्षा के तराजू स्थिर होते, कंपनी से विहीन, हाँ, समीक्षक के कहने का ढंग अपना होगा, उसकी भाषा सुथरी और असंदिग्ध होगी, उसका दृष्टिकोण पूर्वाग्रहों से दूषित नहीं होगा, उसकी पंख व्यापक होगी।

एक ही तत्व को लेकर समूची रचना का मूल्यांकन करना चमत्कार ही है, पूर्ण कभी नहीं। एक गीत ही लें, यदि इसकी गेय शक्ति की ही चर्चा हो, इसके भाव, इसकी भाव, इसकी प्रतीक-शृंखला, शब्द कौशल, प्रभावोत्पादक गुण के नहीं, तो यह असंगत ही होगा। इसी प्रकार, किसी उपन्यास से इसका संदेश निकालकर ही इसकी आलोचना करें, जैसा प्रायः किया जाता है, तो हम कथाकार के साथ अन्याय करते हैं। कोई भी रचना, विश्व या संक्षिप्त, सभी तथ्यों के योग से अपना लक्षित प्रभाव उत्पन्न करती है। इस प्रभाव को रस, सौंदर्यांकन, संदेश, आह्लाद, जो भी अन्ततः संज्ञा, चाहे, दे सकते हैं। कल्पना का सहयोग सभी कलाकार तेले हैं परन्तु अनुभूति के आधार पर ही। साहित्य का जन्म होता है मस्तिष्क तथा हृदय दोनों की क्रियाशील स्थिति में। दर्शन की सूझबातें मर्म को उसी तरह छूतीं जिस तरह भावनायें। "भगवद्गीता" विश्व के अग्रगण्य काव्यों में एक है। जो कलाकर अपने को पाठकगण तक व्यक्तीकरण द्वारा पहुँचा देता है, वही सफल होता है। यही उसे भाषा, और इसके चेतन रूप, मूहावरों, शब्दों, उपमाओं, प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। इन सबों की बोधकम्यता ही केवल उसे आकर्षित नहीं करती, परन्तु बहुल चित्र, भाव, विचार, विशद स्मृति को जगा देने की क्षमता भी खींचती है। समीक्षा इन दोनों की पहचान करती है और रचना की समस्त, समग्र निधियों का तटस्थ विवेचन करती है।

हिन्दी कविता, खड़ी बोली की कविता, में पांच शैलियाँ अवतरित हुई हैं। प्रथम शैली के प्रवर्तक हैं, द्विवेदी, उन्नायक गुप्त, इसमें भाषा का प्रवाह, प्रसाद गुण, सीधी उपमाओं का उपयोग, अचेत का भावात्मक निरूपण, प्रमुख रहा। दूसरी शैली के प्रवर्तक हैं, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी और प्रसाद : यहाँ तक पहुँच कर भाषा कोमलमयी, प्रंजाल, पर प्रतीकपूर्ण और गति गीतिमयी हो जाती है, सुझ भावनाओं का गायन, प्रकृति के प्रति तन्मयता, स्वदेश-गरिमा का केवल संकेत प्रधान हो जाता है। तृतीय शैली के प्रवर्तक हैं, निराला, उन्नायक अज्ञेय, छंद अतुकान्त, मूक्त, मूर्त अमूर्त, अमूर्त मूर्त हो जाता है, इसकी अभिव्यक्ति प्रसाद के "आंसू" में भी देखी गयी थी, गति संभाषणमयी, विषय मानव के गहन एवम कोमल पक्ष, समाज, देश की दैन्यपूर्ण भलक और पद्य गद्यमय, संज्ञा विशेषण-रहित। चतुर्थ शैली के प्रवर्तक हैं नवीन, उन्नायक माखनलाल, कुछ अंशों में दिनकर, परन्तु इसमें विषय की वह मौलिकता जो उपर्युक्त तीन शैलियों में है, चूंकि इसकी परम्परा का आविर्भाव, असल में, "भारत-दुर्दशा", "भारत-भारती" में ही हुआ था। हाँ, इसकी उदात्त वाणी फूटी नवीन की क्रांति-कारिणी कविता में, "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए", माखनलाल की "पुष्प की अभिलाषा" में। यो

तो इसकी प्रधान प्रवृत्ति, स्वर्णिम अतीत की स्मृति रेखायें, प्रसाद के "हिमालय के आंगन" इत्यादि में भी खींची गयी थीं। इस समय के प्रतीक अनल, (), प्रलय, ही हैं। सुभद्राकुमारी चौहान की "भांसी की रानी" या "वीरों का कैसा हो वसन्त" भी उदाहरणीय हैं। इसकी भाषा में पौरुष तथा उर्दू गजलों की रवानी की प्रतिध्वनि प्रकट है। पंचम शैली विशुद्ध गीत के रूप में प्रचलित हुई है जिसकी प्रवर्तिका हैं महादेवी और उन्नायक हैं पंत, बजन, नेपाली, यद्यपि इसके सह-गायक तो प्रसाद, निराला इत्यादि भी रहे हैं। राग, विराग, विरह, एकान्तता, प्रकृति-पुरुष के शाश्वत सम्बन्ध, आत्मा परमात्मा की मिलन-आकांक्षा, प्राम्य सुपमा का आकर्षण प्रधान रहा। इसे हम छायावादी, रहस्यवादी रचनायें कहते, जिनमें कौतूहल, जीज्ञासा, व्यथा, वेदना की व्यंजना होती। स्वभावतः भाषा में पाया गया सचेंष्ट माधुर्य, दुराव भी, कल्पना की उड़ान, लौकिक, पारलौकिक अप्सराओं की पदचाप, संध्या, निशान, तारिका, दीपक, निर्भर, उषा, विहग-कुल, मधुमास, पतभङ का सतत अंकन। मैं यह नहीं, कहता कि इन वर्गों में ही हम इन कवियों को अक्षरशः विभक्त कर बिठला सकते, परन्तु यह निश्चल है, उल्लिखित तथा अन्य अनगिनत कवियों ने प्रधानतः अपनी-अपनी प्रतिभा इन दिशाओं में ही दिखलायी है और ये ही पांच लड़ियां हैं जिनमें हिन्दी कविताओं को हम पिरो सकते। आखिर, प्रवर्तक, उन्नायक एवम-गायक का अपना-अपना ते है ही। चूँकि सभी एक ही सदी, वह भी, एक सदी की एक हो आर्द्ध पृष्ठभूमि में आये, अतएव एक के हिलकोर दूसरे को भी छूते रहे, प्रयोग के आकर्षण समान रहे। भाषा के निर्वल औल सबल दोनों पक्षों का समान योग रहा : ज्ञान, विज्ञान का भण्डार एक ही रहा : समाज, देश, विदेश की एक ही पूंजी रही : विचार-धारा भी एक ही सिद्धांत, मनुष्य के अंतर-विहीन संगठन, से प्रेरित। इन कारणों से इनका पृथक-करण कठिन है, कुछ कृत्रिम भी, परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में टाला नहीं। जा सकता। प्रयोगवादी या नयी कविता इन धाराओं से अलग नहीं। नई कविता का नाम दे देने से कोई कविता नयी नहीं होती और न चिर व्यवहृत उपमाओं का त्याग कर ही अथवा न कोरे विज्ञान या तर्क का आश्रय लेकर। यदि नयी कविता से केवल किसी नई कृति का ही अभिप्राय है, ते उचित ही है, पर यदि किसी शैली या भाव-निरूपण की मौलिकता का श्रेय बटोरने का प्रयास है, तो काव्य के शाश्वत गुणों को लेकर ही उसका परीक्षण करना पड़ेगा। "तार सप्तक" की तीन राशियों में और "आधुनिक साहित्य" में जो कोलाहल मचा, वह मननीय था। बुद्धि, विवेक, गद्य-जैसी अभिव्यक्ति के गुण सभी प्रौढ़ या सफल काव्य में होते। यह किसी वरिपाटी का ही गुण नहीं हो सकता, छंद, प्रतीक तो सज्जा हैं, प्रेषण में सहायक हैं, पर न अपने में पूर्ण और न साध्य। इधर नई कविता की संज्ञा से रहित कविता का भी आविर्भाव हुआ है, जिसमें मैंने काव्य के भाविष्य की आशयें साकार होती देखी हैं, वाद से परे नैसर्गिक अभिव्यंजना पायी है। इस प्रवृत्ति का नामकरण न करना ही अभीष्ट होगा।

उपन्यास तथा कहानी की बाढ़ में कथा-साहित्य को अमूल्य रत्न प्राप्त हुए हैं। "चंद्रकांता संतति" की भूलभूलैयों से प्रिय बनकर और "ठेठ हिन्दी का ठाट" में ढलकर भाषा उर्दूदाँ समाज में आदर पा सकी। फिर प्रेमचंद के कथानक, चरित्र, संवाद में आडम्बर को पूर्णतया तज कर सद्यःस्नाता की भांति कथा जीवन से बंधी हमारे समक्ष आई। व्यक्ति और समष्टि की चेतनायें समस्त देश में व्याप्त थीं, बंगला का उत्कर्ष चरम पर प

हुँचा था, जन-आंदोलन शासन के विरोध से टकरा - टकरा कर समाज-श्रंखलाओं को तोड़ने में दत्तचित्त हो चला था, राजनीति और साहित्य के रंगमंच पर एक ही खेल खेला जा रहा था। इस खेल के प्रधान नायक हिन्दी में प्रेमचंद्र हुये। उनकी जन-पुकार थी। "चित्रलेखा" में जीवन के एक परम सत्य-रुधिर की शक्ति विवेक की शक्ति से बलवती होती है - का ही प्रतिपादन हुआ, फ्रायड का फल हिन्दी कथा - साहित्य को भी मिला। "शेखल : एक जीवनी" में भारतीय जीवन पर सामायिक प्रकाश है, शेखर भारत की तत्कालीन जागरूक पीढ़ी का प्रतीक पुरुष है और चूंकि कथा-शैली सर्वथा नई थी, इसलिये इसका तगड़ा स्वागत भी हुआ। "नदी के द्वीप" में अज्ञेय ने हाड़-मांस और रुधिर की शक्ति का ही परिचय दिया। प्रेम, वह भी लौकिक यद्यपि भारतीय अध्यात्म परम्पर के अनुसार अद्भुत पराकाष्ठा में परि'त, कथा-साहित्य में, खूब सशक्त रहा। फिर, "मैला आंचल" में सुदूर ग्राम-प्रांत के सामयिक चलचित्र दिखाये गये। रेणु ने असंख्य पात्रों को प्रस्तुत किया पर प्रत्येक मासल एवम सजीव और जीती भाषा के माध्यम से, दृश्यों के यथार्थ चित्रण से। प्रेमचन्द ने जिस पीढ़ी को प्रस्तुत किया था, उसी के बाद की पीढ़ी "मैला आंचल" में बोल उठी और उसके बाद की पीढ़ी मधुकर गंगाधर के उपन्यास "फिर से कहो" में। "परती : परिकथा", "दीर्घतपा", में रेणु ने समकालीन पीढ़ियों का ही तिरतशैन कराया है, त्रपनी पूर्व परिचित शैली में, भले ही ये कृतियां पूर्व सी हलचल न मचा सकी हों। राचाओं से भरे इस देश में, प्रेम और बलिदान को राथायें भी उपन्यासों में कम नह गायी गयी हैं, वृन्दावनलाल मा ने इनके द्वारा साहित्य को विस्तृत कियी ही है और न यह बात है कि उपयुक्तकथाकारों के स्रतिरिक्त अन्त हैं ही नहीं। परन्तु जहां पद्धतियों का प्रश्न है, वहा जासुसी, एतिहासिक, सामाजिक, वैयक्तिक तथा प्रणयपूलक उपन्यास ही हमारे समक्ष त्राये हैं। घटनायों के बाहुत्य, नायिका, नायक को केन्द्र-बिन्दु मानकर विकसित, "में" की आत्मीयता में प्रस्तुत, संस्पर्णा, अनुभूतियोंके प्रयन्तशील, मस्तिष्कजाल को बुनने और सुलभाने में उद्यत, प्रकृति की शोभा के वर्णनों में रत, फिर इनको शून्य कर केवल परिस्थितियों में उलके मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के प्रकदीकरण में सचेष्ट, प्रणय को जकाने में लीन, मनोज्ञान के तिलस्मों में लिप्त, हनारा हिन्दी कथा-साहित्य रहा है। प्रारम्भ में, भाषा किवता जैसी अलंकृत रही, फिर संवाद-शील, बोलचाल के समीप, प्रचलित शब्दों को आश्रय तेदी हुई समुन्नत हुई, पर पीछे उनके चित्र बनाने के दायित्व को पाठकों पर पूर्णातः छोड़ देने की परिपाटी चलायी। प्रणय को शील से वंचित न रक्खा, बाद में इसे स्पष्ट तथा नग्न भी कर दिया।

कोई भी कहानी पूर्णा होती, लघुकथा नहीं। आकार से कोई कथा न उपन्यास अथवा न कहानी का रूप ले सकती है। यदि उपन्यास प्रकाश का वह साधन है जिससे हम किसी मानव, समुदाय, वर्ग, समाज, देश, जीवन के विविध अवयवों को देख पाते हैं, तो कहानी वह आलोक है जिसमें उनके एक ही अवयव को हम पूर्णातः देख पाते। कहानी अत्यन्त ही अविशिन्न होती है। हां, उपन्यास और इसके उपकरणों में कोई भेद नहीं : कथानक, पात्र, दृश्य, सुभ, पराकाष्ठा, घटना-क्रम सभी सनान होते। पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलोरी की अनर कहानी "उसमे कहा था" में तग और बारिदान की अमिट ज्वाला में तपे प्रेम और खरे उतरे पात्र, संप्राम-भमि में प्रखर अर्न्तद्वन्द्व की विजय, संस्मरणा से ओत-प्रोत वर्णान, सभी साहित्य के रस या प्रभाव, जो कहीं उसकी उत्पत्ति

ी मे योग देते हैं। प्रेमचन्द्र की कहानियों में ओर उपन्यासों में वस्तु-विषय का भेद तो नगय रहा, परन्तु उनके हाथों हमारी कहानी विस्तृत दायरे में प्रवेश के तत्वों को मूर्तकर कहानी की लोकिकता सिद्ध कर दी। रेणु की "तीसरी कसम : मारे गयो कुलफाम" में फिर हमने "उसने कहा था" - सदृश्य अविचिछन्नता और राग के अत्यन्त ही गहन और मनोरम पक्ष को देखा। कृष्णाचन्द्र की एक ही कहानी में समाज और देश के घात-प्रतिघात का विह्वल और कातर स्वरूप देखने को मिला। यशपाल की दृष्टि रोटी और रोमांस दोनों पर पड़ी। राजोन्द्र यादव, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, इत्यदि की रचनाओं ने प्रचलित को ओप्रलित कर नयी कहानी का अविर्भाव किया। कहानियों की भरपूर समृद्धि हुई है, अन्य भागों से अधिक पुरस्कृत भी।

यथार्थवाद और प्रगतिवाद की प्रेरणओं से उद्भूत, मनोविज्ञान के ताने-बाने से बुनी हुई, ये कहानियाँ हिन्दी भाषा के क्षेत्र में भी करिश्में कर सकी हैं। अंग्रेजी की "रिपोर्ताज" संज्ञा लेकर कहानियों ने समाज और मानव जीवन के टुकड़े-हू-बहू रकखे हैं। इनमें न छुगत है और न मैल को ढकने का प्रयास। इनमें काल और विज्ञान के थमेड़ों को चोट है, अनुभूति का, टकसाल भाषा का अनुशोलन। जहां पहले कहानी का अन्त होता था, वहां से आज की कहानी आरम्भ होती है, जहां घटना-ज्ञान की उत्तुकता का अटूट निर्वाह, वहां एक ही घटना से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का विश्लेषणा। जहां जुगनू, चांद, सितारों से हमारे भाव-ज्वार-भाते उठते, गिरते थे, वहां रेल, विमान, तार, पत्र, बाढ़, अकाल, दंगा उत्पीड़न, तथाभ्रष्ट कर्माधार से जीवन की होड़ होती है। जहां कथाकार परोक्ष में रहकर हमें अपने आतर्शों से अवगत कराता था, वहां प्रत्यक्ष में आकार, आत्मीय बनाकर, हमें प्रभावित करता है। जहां भाषा कृत्रिम, बोभिल, बहुत शब्दों का उपयोग कर भी यथेष्ट कह नहीं पाती थी, वहां हमारे रोजमर्रों से सब कुछ कह डालती है।

चलचित्र ने रंगसंच को डाला अवश्य, पर दृश्य काव्य का विकास भी बराबर चलता ही रहा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "भारत-दुर्दशा" और "सत्य हरिश्चन्द्र" कृतियाँ हिन्दी नाटक साहित्य के प्रथम उच्छवाक थीं। भाषा और देश के प्रति सनान रूप से जागरूक उस साहित्यकार ने हमारी चेतनाओं को व्यक्त कर हमारे साहित्य को जीवन से बांधा। उनमें संस्कृत-शास्त्र के सभी नाट्य तथ्य भले न हों, परन्तु उनमें साहित्य को मूल प्रवृत्ति, काल और समाज का अंकन, उदात्त है। प्रसाद ने आर्य-संस्कृति की कथाओं को नाटकों में साक्षात्कार किया, यद्यपि वह भी तकालीन आर्यावर्त की गौरव-गरिमा को दुहाई दी जानेवालो धारा से ही प्रभावित होकर। उनके नाटकों में द्रष्टव्य अक्षमता और भाषा की दुरुहता के दोष पायो गये परन्तु इनसे उनका मूल्य घटा नहीं। साहित्य और दर्शन, साहित्य और मनोविज्ञान के शाश्वत गुणों का समवन्ध इन्ही नाटकों में हुआ, भाषा परिपक्व हुई, अनेक गेय पद्यों का सृजन हुआ, गद्य नाटक का माध्यम बना।

साहित्य में नाटक का स्थान पृथकतः अपना है। नाटककार और दर्शकों के सम्बन्ध की तुलना कवि या कथाकार और पाठकों के सामान्य में नहीं की जा सकती। नाटक में सभी ललिन कलाओं का योग तो रहना ही है, साथ-साथ साक्षात्कार, प्रेरण, डने शब्द, सचा, हाव-भाव, सुद्रा, आकृति के प्रभाव इतने सीधे पडते कि

गोपन बिलकुत ही असाद्य हो उठता : जहा कविता, कहानी में यह गोपन कल्पना को सजग करने और विशद चित्र खींचने में सहायक होता, वहाँ नाटक में हमारे चक्षु आयन्त ही क्रियावान होते । कलाकालों ने अहोपन की स पद्धति इसी से सीखी है । आज की ललित कलाओं पर दुस्हता के जो दोष लगाये जाते, उनके पीछे आरोपन का सुगन न होता हो मुख्य है । पौराणिक या ऐतिहासिक कथानकों का मोह इसलिए जवर्दस्त रहा कि इनके द्वारा आरोपन सहज था । पर नाटकों का रंगमंच पर न उतरना ऐसा ही अन्वाभाविक है जैसा वीरण रहे पर तार मुकुत न हो, पट रहे पर चित्र नहीं । अतएव नाटक में कोरी काल्पनिकता फवती नहीं, स्वयं प्रसाद के दो नाटक या पं त का "ज्योत्स्ना" फैटेशी ही हैं । प्रसाद के बाद भी ऐतिहासिक नाटकों को प्रचुरता रहा, सेठ गोविन्ददास, उत यशंकर भट्ट, सन्द्रकुप्त विद्यालंकार, हरिकृष्णा प्रेमी इत्यादि ने इन्हीं, में अतमी अमूल्य भेंटे हमे हीं । इनमें बहुतों क े रंगमंच पर अभिनीत होने का सौभाग्य मिला, हरिकृष्णा प्रेमी के "रक्षाबंधन" ने तो एकाधिपत्य जैसा हो स्थापि त कर लिया । यह सत्य हे, चलचित्रों और अन्य नाट्यपरंपराओं, अंग्रेजी, पारसी, बंगला के सम्मोहन ने हिन्दी रं गमंच का स्वत्व विकसित न होने दिया, परन्तु यह आक्षेप कि हिन्दी के नाटक अभिनीत न हुये, सत्य नहीं । विद्या लयों में, उत्सवों में, पर्वों में, प्रामों में, शहरे में, भी, हमारे बहुत से नाटक खेले जाते रहे हैं, कोई सुव्यवस्थित संच पर नहीं, अव्यावसायिक रुप से ही, परन्तु अवश्य, भाषा का प्रसार कर । यह सत्य हे, विश्व में, सामाजिक स्थि तयों और सपस्या पर रचित नाटकों की क्षमता घर कर चुकी थी उस सनय तक जब हमारे नाटककार अतीत क े स्वरिमा से हमें दीप्त कर रहे थे । शोक्सपीयर के बाद ही अंग्रेजी में समाज की मैल को रंगमंच पर धड़ल्ले से धया गया और वरनाट शांके हाथों तो घटनाओं का मूल्य ही जाता रहा, संवाद के जालों में ही आदर्शरत्न छाने गये । पश्चिम के इब्सन ने वातावरण-जन्य पात्रों को प्रकट कर नाटक को ग्राह्य बनाया । यद्यपि हिन्दी का नाट्य वस्तु-विषय मूलतः पौराणिक और ऐतिहासिक ही रहा, तथापि "भारत - दुदर्श" या स्पूप नाटकों में, "सिदुर की होली", "आधीरान", "मुक्ति का रहस्य" रचनाओं में नई दिशा का अवलोकन हुआ ही : फिर, बेचन शर्मा उग्र, भगवती प्रसाद बाजपेयी, गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अशक, हरिकृष्णा प्रेमी और बृन्दावन लाल बर्मा सरीखे ऐतिहासिक माटक कारों ने भी समाज के चक्षु के अतीत से हटाकर वर्तमान पर टिकाया । "सेवा-पथ", "धीरे-धीरे" और 'स्वर्ग की भलक' ने तो हमारी अभी जो धारणयें विद्यमान हैं, और उच्च-स्तर के प्रतिकूल, उनका ही अनावरण ि कया है ।

प्रभाव की एकता तथा अभिनय की सुकमता के पार्श्व में ही एकांकी नाटकों का उद्गम हिन्दी में हुआ, ि जनके विकास में अकाशवारणी भी विशेष सहायक हुई । साक्षात्कार के व्यावहारिक तकाजों को कबूलकर तथा देखने में घटे समय ओर कथानक के घटे काल में सामंजस्य-सा उपस्थित कर इन नाटकों ने हमारे बीच वह प्रीि त पायी जो त्रिअथमा पंच, षष्ठ, अंकी नाटकों को न मिली थी । अभिनेयता की मांग में, बहुत-सी कृतियां आर्यीं, जगदीशचन्द्र माथुर की स्वीकारोक्तिया इसका ही प्रभा है । यों ते शोधकर्ता भारतेन्दु की "वैदिक हिंसा न भवति" या प्रसाद की "एक घूंट" में एकांकी नाटक का अंकुर देखते हैं, फिर भी इनका प्रचलन तीस बर्षों से अधिक न हीं हुआ है । रामकुमार वर्मा, बेचन शर्मा उग्र उपेन्द्रनाथ अशक, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, जैनेन्द्र, अज्ञेय,

कमलाकान्त वर्मा, रामेश्वर सिंह 'कश्यप', आदमीनारायण लाल, जशतीश चन्द्र माथुर इसके उन्नायक एवं सर-सृचनकार हुये, जिनमें कवित्व हे, कल्पना है और समाज-समस्याओं के प्रति सचगता भी । संकेत स्पष्ट हैं, पात्र सुगठित और भाषा प्रभावकारिणी । "भोर के तारे" में यदि अतीत की पृष्ठभूमि में, राष्ट्र-कर्तव्य की तत्कालीन चेतना है, तो "चारुमित्रा" में खुल्लमखुल्ला आदर्शों का आरोपन ।

मैं साहित्य के अन्दर और गद्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध, अलोचना को ही नहीं मानता हूँ वरन इतिहास, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरणा, विज्ञान-वार्ता, समाज-शास्त्र, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक गवेषणाओं को भी । जिस तरह संस्कृत में काव्य पद्य-रचना का ही बोधक नहीं, इसी प्रकार साहित्य आज मनुष्य की सम्पूर्णा चेतनाओं और चिंतनों का व्यापक समूह है । यदि चंचल के यूद्ध संस्मरणा अंग्रेजी गद्य की अमूल्य निधि है, तो उसी प्रकार राजेन्द्र प्रसाद की "आत्मकथा" ओर दिनकर की पुस्तक, "संस्कृति के चार अध्याय" भी । गद्य में, निबन्ध का निजी महत्व है । द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, पन्नालाल बख्शी ने विबन्धों में सभ्यत और संस्कृति के निचोड़, गूढ चिंतना, मनन और गवेषरणा के सार व्यक्त किये । इनमें विचारों की गहनता के कारण भाषा भी अन्यन्त गंभीर हो चली । देश, समाज, इतिहास, मानव, विज्ञान का क्षेत्र खुला रहता, जिसे देखने की शक्ति होती, वह इस क्षेत्र से उपकरण चुन लेता है और फिर अपनी वाणी में रखता जिसमें उसकी अपनी अमुभूति रहती है और फिर जिसके सहारे वह उसी क्षेत्र को समुन्नत तथा प्रकाशित करना चाहता है । यहीं साहित्य का सृजन होता, और साहित्य के किसी भी अंग का ।

"उत्तरा" : "नवीन" : "संवर्त" : "कुरुक्षेत्र"

"नए पत्ते" : "इत्यलम"

"उत्तरा", "संवर्त", "कुरुक्षेत्र", "नवीन", "नये पत्ते", "इत्यलम" सन () से () जनवरी, () की अवधि, के मुख्य काव्य-प्रकाशन हैं । जब राष्ट्र सीखचों के पीछे बन्द था, विश्व सर्वनाश के भय के कातर ओर जब सता की दो प्रतिकूल धारायें अप्रसर हे रही थी, ओर आश का संचार करती, स्वातंत्र्य की लहर एक धारा से फैलकर भारत तथा अन्य देशों में भी व्याप्त हुई, और हिरोशिमा के खण्टहर पर न्ययार्क में विश्व-संस्था की स्थापना, कल्पना पुनः नयी आस्थायें लेकर साहित्य में उतरी । इसी काल की हिन्दी कविता में अधीरता, विह्वलता, नयी जागृति की आशावादिता, राष्ट्रप्रेम की एकाप्रता, मानवीयता ही प्रेरणायें बनी रहीं ओर घुलमिलकर एकाकार भी हो गई ।

उत्तरा उ के सम्बन्ध में, पन्त ने बड़ी आस्था दिखलायी । आठ वर्ष बाद भी इसके मोह ने उनसे कहलाया, "उत्तरा को सौंदर्यबोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से, मैं अब तक अपनी सर्वोत्कृष्ट रहना मानता हूँ । और "उत्तरा" के पद नव मानवताके मानसिक आरोहण की सक्रिया चे



तन आकांक्षा से भक्त हैं। चेतना की ऐसी क्रियाशीलता मेरी अन्य रचनाओं में नहीं मिलती है। () की "स्वर्गाधूलि" में () की "युगवाणी" सदृश्य पंक्त के अनुसार उनकी "कल्पना ने अनुत्त धाटित नवीन भूमियों तथा क्षितिजों में प्रवेश किया।

साधारणतः - भूमिका से प्रतिपादित कविताओं से मैं घबरादा हूँ। कारण, यह भूमिका कवि के अभिव्यक्तियों को सीमा में बांध देती है। फिर भी, पंक्त की भूमिकायें, उनके कवि व्यक्तित्व को, हमारे लिये उनकी कविताओं से अधिक सुलभ करने में सफल हुई हैं।

पंक्त की प्रेरणायें बदलती रहा हैं, परन्तु उनकी व्यंजनायें एक ही प्रकार की रहीं। यदि 'पल्लव' में किशोर का कौतूहल है, "युक्तराणी", "ग्राम्या" में अनुत्त धाटित भूमियों का भ्रमण, तो 'उत्तरा' में नवोदित भारत की आस्था, सर्वग्राह्य मानबीयता का आरोपन। लेकिन पंक्त की व्यंजन I में कोई परिवर्तन नहीं। दृष्टि व्यापक हुई, पर स्वप्न में डूबी, नित नवीन के मोह में अटकी। निष्कपटता पंक्त की सबसे बड़ी शक्ति है, जिसे उनके आलोचकों ने एक संकीर्ण संदर्भ में देखकर उन्हें अप्राहत किया है, प्रगतिवाद का कोला परिणाम बतलाया है, परन्तु जिसकी मूल शक्ति का निस्संकोच मूल्यांकन नहीं किया है। यह निर्विवाद होना चाहिए कि पंक्त की चेतनायें क्रियाशील रही हैं और इन्होंने कविता में, अपनी शैली में, और बाद में, आकुल गद्य में भी इन्हें रूप दिया है। पंक्त के कवित्व में प्रगति रही। पर निराशा यह है कि उनकी व्यंजना में नहीं और यही उनकी कविता का सब से बड़ा दुर्बल पक्ष है। उनकी चेतनाओं और व्यंजनाओं में समानान्तरता तादात्म्य नहीं रहा। यदि वह वस्तुविषय में प्रगतिशील रहे, तो व्यक्तीकरण में बड़े ही कट्टर और इसलिए भाव और विचार की नूतनता के रहने पर भी इनका प्रेषण शिथिल रहा। इस कारण पंक्त अपने को व्यक्त नहीं कर पाते हैं। 'उत्तरा' की () कवितायें भी उनके कथ्य को स्पर्श न कर पातीं, पूर्ववत् वही चरण, नीरव, फूल, जड़ चेतना के चक्र उर, व्यथा, रोदन, मेघ, स्वप्न, क्षितिज के पार, अरुणाई, मौन, कैसा, कौन, चंद्र, नूपुर, तंद्रिल, अवंगुठन। पद्यों की गेयता और कमनीयता बनी रही है, पर इनके शब्द, रूपक, प्रतीक इनके ही प्रयोग से इतने घिसे हैं कि कवि उनमें नये प्राण भरने में सफल नहीं हो पाता। नव और जगजीवन, मानवता का सतत आश्रय लेकर भी पंक्त की भरी कुहराम मचा नहीं सकी। कवि की परख अपनी है, उसमें युगीन विह्वलता है, अनुभूति की निष्कपटता है, पर प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। कवि के लिए कौन-सी व्यंजना कारगर होती, यह आलोचक नहीं कह सकता और न नयी कविता का ही अवरण इसके लिए उपयोगी बतलाया जा सकता है, क्योंकि यह कवि की

नजी वस्तु है। यह भी नहीं कि 'उत्तरा' की पदावलियां बिलकुल ही मूल्यहीन हैं, परन्तु यह सर्वप्रकार है कि वस्तुविषय और शैली तथा अरोपन-प्रणाली में प्रगति समानान्तर नहीं रही है।

“उत्तरा” में कवि कहता है :-

मैं स्पर्गिक शिग्वरों का वैभव  
हूँ लुटा रहा जन धरणी पर,  
जिसमें जगाजीवन के प्ररोह  
नव मानवता में उठें निखर।  
देवों को पहना रहा पुनः  
मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन,  
मानव आनन से उठा रहा  
अपरत्व ढंके जो अवगुंठन।

विचार बड़े ही उन्नत हैं, जीवन का जड़ भी, चेतन भी परन्तु इनका अरोपन कवि करता है बेजान प्रतीकों में जिससे प्रतीत होता है, कवि नयी जगती की रचना करने में विभोर है अवश्य पर उस रचना में स्पष्ट खड़ा करने में सक्षम नहीं हो पाता, “गा कोकिल बरसा पावक कणा”, वाली बात है परन्तु यह स्वकिम है, अस्पष्ट है, इसकी शोभा सजीव, दीप्त पर चंचल है, इसके प्रकाश की छायायें “विचरण करती क्षमा-ध्वनित चरणा” से। अंतिम कविता में ‘पल्लव’ का पुरातर मोह नव पल्लव के रूप में, तथा ‘गुंजन’ के सौरभ, स्वप्न, जन, भू, धन, अपने चिर-परिचित रूप में ही आये हैं। ‘उत्तरा’ की प्रथम कविता में पंत की मूल प्रेरणा स्पष्ट होती है, जब वह कहतै हैं :-

बदल रहा अब स्थूल धरातल,  
परिणत होता सूक्ष्म मनस्थल,  
विस्तृत होता वहिर्जगत अब  
विकक्सित अन्तर्जीवन अभिमत।

परन्तु “उत्तरा” उनके ही द्वारा निश्चित कवि के अदर्श को स्वर न ते सकी है। “आज के संक्राति काल में मैं साहित्य-स्त्रष्टा एवं कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोकमानवता जन्म ले रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत को भंकृत कर सके।” निराशा यही है कि कवि ऐसा नहीं कर पाये, ह्रस्व अन्त्यानुप्रासों

और विशेषणा के भावात्मक प्रयोग के बावजूद । प्रत्येक सफल कवि युग स्त्रष्टा कवि प्राप्त भाषा का स्त्रष्टा भी । पंत में प्रथम गुण है परन्तु द्वितीय नहीं । उनके पद्यों में गति की संगति है, कमनीयता है, मिठास है पर उनके संदेश को प्रेषित करने की क्षमता नहीं ।

पंत मूर्त के छविकार है, अमूर्त की आनंदानुभूति, जो उनकी कविता का जन्म देती है, उसकी छवि उतारने की सामर्थ्य उनमें नहीं । "ग्राम्या" में जैसा प्रेषणीयता है, वैसी "उत्तरा" में नहीं, "ग्राम्या" की 'ग्रम-युवती', 'वह, बुडढा', 'ग्रान श्री, में पंत का मूत्ताकन बड़ा ही गहरा है ।

"नवीन" में गोपाल सिंह नेपाली बहता है : "जरा भाषा सरलसजीव है और छन्द चुस्त हो .....  
... राजनीति में नौजवान और साहित्य में बृढ़े एक साथ नहीं, बन सकते ।" इसके अनुकूल उनकी प्रथम कविता उनके घोषणा-पत्र को आके बढ़ाती है :

तुम कल्पना करो नवीन कल्पना करो

तुम कल्पना कगे ।

नेपाली मुख्यतः गीतकार रहे, अतएव उनका भाव गांभिर्य से ढंका म रहा और म व्यक्तीकरण ि कसी वैचित्य से ही बोभिल । शब्दों की करामात के कायल इस कवि ने आह्लाद और नैराश्य को सहय अनुभूतयों की, सरल सजीव भाषा में ही व्यक्त किया, ऐसे सनय जब अलंकृत, विशेषणों से लते संस्कृत के तत्सम हो कारगर समयों जा रहे थे । हां, वद्य गद्यमय होता जा रहा था, संबोधन और संवाद से परिपूर्णों, तर्फ और वस्त-विषय के रूशे पक्ष पर आधारित, परन्तु वाहय जगत से प्रभावित मानव की भावनाओं का वादन नेपाली ने गीतों में निष्कपट और सीधे ढंग से ही किया । नेपाली की परख सार्वभौम थी : देख की तरंगें कर्मठ युवकों की विकलता, समाज का दैन्य, प्रकृति की सुषमा, मुहावरों का तेज, गीतों का प्रभाव, उर्दू गजलों की प्रियता, सभी इनमें तीप्त हुये । न तो इन्होंने अव्यात्म या दर्शन का चोला पहना और न अपने नयन को सुन्दर दृश्यों पर टिकने से ओभल ही ि कया पर इन्होंने सजना कवि की परख दिशालाई सुलभ राष्ट्र चेतना और मानव की कल्याणमूलक क्रिया की स्वीकारोक्तियों में । उनकी जनाप्रियता इसमें ही निहित थी, केवल इनकी केयता में ही नहीं । उन्होंने साधारण प्रतोक ि में ही शक्ति देखी :

जिसकी तरंग लोल है अशान्त सिन्धु वह

जो काटता घटा प्रगाढ वक्र इन्दु वह

जो मापता समय सृष्टि दृष्टि-विन्दु वह

जंजीर टूटती कभी न अश्रु-धार से

दुख-दर्द दूर भागते नहीं दुलार से

हटती न दासता पुकार से, गुहार से ।

उस कार की आशावादिता, वर्गाविहीन मानव-संगठन के आदर्श का ही फल है 'एक नया संसार' :

एक नया संसार कि जिसमें एक नवीन समाज

एक नयी जिन्दकी कि जिसका एक नया अंदाज

जग में मनुज-रुधिर के बदले

बहती रहे स्नेह की धारा

शान्ति बुलाती रहे पथिक को

बन जीवन-नभ का ध्रुवतारा

मानव की आखों में जग का

कण-कण प्यारा, क्षण-क्षण न्यारा

मानवता का सिन्धु सोख ले

मानव के दृग की जल धारा

दुनिया हो मस्तों की दुनिया, जीवन हो त्योहार

मानव के जग में मानव गूँजे जय-जयकार ।

यदि इनमें पंत की प्रेरण जैसी नयी जगती की तरुणाई है, तो उनकी स्वप्निलता नहीं । ध्रुवतारा , कण-कण, क्षण-क्षण, जल-धारा, त्योहाल, जय-जयकार जैसे टकसाल प्रतीकों को ही प्रयोग में लाकर तथा इन्हें अपमे कथ्य को प्रेशित करने में समर्थ कर नेपाली ने अपनी घोषणाएँ कार्यान्वित कर दीं जब कि पंत ने नहीं । पंत और नेपाली के भावों की संघनता एक नहीं : पंत चिंतनशील अधिक रहे हैं, जहाँ नेपाली भावुक अधिक, परन्तु पंत भावुकता से अपमे चिंतनों को दबाते हैं जहाँ नेपाली संवेदनशीलता और भावुकता को एकाकार कर देते । नव मानवता की गहराइयों में डबकियाँ लगा कर पंत अदर्श रत्न को काव्य में बटोरने का प्रयास करते हैं जहाँ नेपाली सतह पर ही विचरण कर इन रत्नों को देदीप्यमान कर देते । पंत की काव्य साधमा विपुल, विशद और गहरी रही, नेपाली की नहीं, पंत मे भाषा का पांडित है, नेपाली में नहीं, परन्तु नेपाली को देन विशिष्ट रहीं । यह सच है, उनका गीत-कौशल सीमित रहा, तुकान्त की तीन मेल खाती कडियों का बार-बार अवतरण रहा, अतएव सतेश्टता की छाब और गजलों तथा चलचित्रों की सस्ती प्रवृत्तियों का अनुसरण भी, परन्तु नेपाली की 'नवीन' पदा

वलियाँ उल्लोख्य है, इसमें संदेह नहीं। उर्दू शायरी के तीन प्रमुख गुण, विवेक, विनोद और गति का स्पर्शी पुट नेपाली की रचनाओं में मिलता है। अपने सहयोगी साहिर लुध्यानवी के 'चकलें' जैसी गहनता और शब्दों का तीखापन, तुकान्तों की कोमलता और औज को इन्होंने "नवीन" में सिद्ध किया।

रुक नहीं, सकती कभी ये बीच के पड़ाव पर  
रुक नहीं सकती कभी ये जिन्दकी के दाँव पर  
भुक्त नहीं सकती कभी ये अपने एक के घाव पर  
बिक नहीं सकती कभी ये आसुओं के भाव पर  
उछल रहां जवानियाँ, सुबह के आसमान में

जल-धारा की गति का सम्मोहन "नवीन" में सर्वत्र पाया जाता। यह नेपाली के पद्यों की रवानी तथा भावों की निश्चलता एवं प्रगति का प्रतीक है। लोल तरंग, अशान्त सिन्धु, घटा, श्रंखला काटता सदैव जल प्रपात, बतली, लहरियाँ, यमुना, गंगा के जल, नाव, बहाव, नदियाँ, ज्वार, सिन्धु सागर का सतत प्रयोग हुआ है। "()" के हिन्दुस्तान" का चित्रइसी रूपक में ही प्रकट है।

कुछ दूर यहाँ से फैला है सागर  
जौ भर न सकेगा मेरी लघु गागर  
भर भी दे तो क्या होगा जल खारा  
इस ओर प्रवाहित आँसू की धारा  
आँसू से क्यों मुंह उसका धुलता है  
धोता है सागर ही जिसका पद-तल

और इस आह्वान में भी -

डालियों में फूल बन, फूलों में रंग बन  
सागर आपर में पहाड़-सी तरंग बन।

भाव-निरूपण में या शब्द-वयन में, नेपाली में कवि की वांछित गुरुता के बदले कहीं-मही शैथिल्य अवश्य है और कवि अपनी सीमाओं से बाहर भी नहीं हो पाता परन्तु इन्हें अपनी प्रतीभा की पहचान थी, जो इन के सपकालीन बहुत-से कवियों में नहीं पायी जाती और जिसके अभाव में ये कवि नुतनता के दम्भ से आक्रांत तथा कृत्रिमता से कपटी भी रहे हैं।

संपूर्ण प्रेभात का एक प्रतीकात्मक गीतिनाट्य है, जिसे 'देव कवि के "देवमाया प्रपंच" नाटक, प्रसाद के 'करुणालय', 'महाराणा का महत्व', उदयशंकर भट्ट के "मत्स्यगन्धर्व", "विश्वमित्र", निराला की "पंचवटी" इत्यादि की पंक्ति में रख सकते हैं, परन्तु यह मूलतः एक कविता ही है। प्रभात हिन्दी के एकाग्र कवियों में एक हैं। इन्होंने पद्य को ही अपना माध्यम बनाये रखा है और इसकी ही साथना अनवरत की है। यह स्वयं ही एक विशिष्टता है। परन्तु प्रभाव की इस एकाग्रता के पीछे उनके कवित्व की प्रधान प्रवृत्ति का अदृष्ट प्रवाह भी है, जिसकी परख अभीष्ट है और थी भी परन्तु जिसका प्रभाव रहा। () से निरंतर काव्य को रचना में लीन इस कवि ने वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति के सभी पहलुओं को फलते-फलते देखा ही नहीं है वरन आत्मासात भी किया है और खूबी यह रही कि अनमे कवित्व की प्रगति में न तो गत्यवरोध आने दिया और न अपनी दृष्टि और अनुभूति के निजस्व को खो ही डाला। प्रभात मूलतः चिन्तन के कवि हैं, गूढ़ चिंतन के। इस चिंतन को हव इनके काल, देश से विलग नहीं कर सकते, इसमें सामयिक चिंताओं की प्रतिध्वनिया हैं, क्रांति, देशप्रेम, समाजचेतना के युगीन आह्वान हैं, परन्तु यही तक हय सीमित नहीं रह जाते। इनमें प्रसाद का घनत्व विशेष है, पंत, दिनकर का सतहपन नहीं : निराला का ओज है, उदात्त स्वर है, नेपाली, नीरज, नरेंद्र की कोरी भावुकता नहीं। प्रसाद के समान इनमें अविरलता रही है। परन्तु प्रसाद और प्रभात की चेतनाओं में एक अन्तर है, कवित्व की समान प्रसाद प्रगाढ़ता के बावजूद : प्रसाद वर्तमान मानवसमस्याओं का निदान मानव की चिरंदन शक्तियों में ढूढ़ते हैं, आर्यसंस्कृति के अन्तिम वाक्यों की सत्यता स्थापित करने में सचेष्ट रहते हैं, प्रभात इनको कबूल कर तथा वर्तमान भाव-विचार की उपलब्धियों को भी मान देकर स्व-सिद्ध अन्तिम वाक्य कहना चाहते। यहीं उनका चिंतन दर्शन हो जाता है, कथ्य गहन और व्यक्तिकारण गंभीर। "संवर्त" और "कामायनी" अथवा "करुणालय" के मानवीकरणों में साम्य है, प्रतीक काव्य या गीतिनाट्य की अरोपन पद्धति का अनशीलन है। "कामायनी" प्रसाद की रचनाओं की पराकाष्ठा है, प्रभात के "संवर्त" में उस पराकाष्ठा को ढूढ़ना समुचित नहीं, विशेषकर जब "कालदहन", "कैसी", "ऋत्नम्बरा", में प्रभात अग्नितन वाक्य वह देने की चेष्टायें करते हैं और सौभाग्यवश इनका प्रयास अभी भी जारी है। फिर भी, "संवर्त" में प्रभात की पहचान की जा सकती है। वर्तमान अहंकार को, जिसमें मानव-महिमा तथा भौतिक अहम सन्निविष्ट है, वर्तमान उपद्रव का मूल कारण मानता हुआ, कवि 'आध्यात्मिक आदर्शों में, कल्याण की प्राप्ति पाता है। इस संघर्षशील संसार के अध्याय के जितने भी पक्ष हो सकते थे, उनका मूर्तीकरण प्रभात ने किया है। बौसर्वी सटी की पीढ़ी का समस्य-शंका-पूर्णा कोलाहल प्रकट कर प्रभात ने वह अस्था दिखलाई है, जो "कामायनी" में है, पंत की "उत्तरा" में है, दिनकर के "करुक्षेत्र" में है, निराला के गीतों में है। रही बात प्रभात की प्रेषण-क्षमता की। हमारी शंकाओं के समाधान में कवि, नाटककार, कूटनीतिज्ञ, अध्यात्म के प्रयोग सभी एक-से विभोर हैं और अनमे-अपने माध्यम से पूर्ति प्रकट कर रहे हैं, इसलिए वस्तु-विषय या भाव-चेतनताओं की मौलिकता का प्रश्न नहीं उठता। अभी यह सत्य, निराकार ब्रह्म की प्रतिजन्य आनंदानुभूति समान, प्राप्ति के परे ही है। फिर भी, किसी रचनाकार के प्रकाशनों में वाञ्छित शक्ति अनुभव करना आवश्यक है। आलोचना का मर्म यही है। "संवर्त" में प्रभात ने अमूर्त को मूर्त किया है, अपनी कल्पना, अपने अनुमान को रूप दिया है, इसमें संदेह नहीं। प्रभात की व्यंजना नित नूतन नहीं होती रही है, उनके पद्यों में निराला की प्रयोग-अभिनवता नह

ी है, भाषा का पक्ष उदात्त ही रहा है, समकालीन गतियों का अमित प्रभाव भी है, परन्तु इसे उनके "संवत्त" में शै  
थिल्य नहीं आया है। निवृत्ति के अहम को प्रभात ने प्रचलित शब्दों और प्रतीकों में ही व्यक्त किया है -

मैं अंहकार की विजय शक्ति  
बन बजा रही हूँ युद्ध-यंत्र  
मैं महाक्रोध की चराडवास  
बन फूंक रही हूँ प्रलय-मंत्र

इसी प्रकार पृथ्वी की वात्सल्य समता को भी, :-

मानव  
दानव  
बन जाय भले  
पर।  
मैं तो  
मनू की संतति को  
गोद खोलानेवाली।  
मेरी छाती पर  
मानव ज्वाला फूके।  
पर,  
मैं तो  
मा का  
प्यार लिये बैठी हूँ।

और हिंसा के अहम को भी इसी प्रकार शब्द-बद्ध किया है :-

आज मेरी विजय का त्योहार,  
आज बल की विजय त्योहार,  
तत्त्व के प्रति देह का विद्रोह,

## आज इस विद्रोह का त्योहार ।

इनमें 'कुकुरमुत्ता' अथवा 'रिरियाता कुत्ता' वाली प्रभिनवता नहीं है, परन्तु के प्रतीक, रूपक, प्रचलन से मरे नहीं हैं, बल्कि निखरे हैं । पंत के रूपक अपने हैं, हमारे आपके नहीं, इसलिए नव, परन्तु उन्हें पंत ने घिस-घिस कर नीरव कर डाले हैं, उनकी आंकार-शक्ति हत कर दी है, जबकि प्रभात के प्रतीक परिचय की विबुल स्मृतियों और चित्रात्माकता से सिक्त है । प्रभात की कवित्व-प्रमा महाकाव्यात्मक है, सुक्तक-मयी अथवा कोरी गीतिमयी नहीं : तत्व का बितन, गाभीर्य, ओज इसके गुण है ।

कुरुक्षेत्र - जितनी एकाग्रता से राष्ट्र चेतना का नाद दिनकर ने किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं, वह भी कर्मठों की राष्ट्र चेतना । दिनकर के व्यक्तित्व और कवित्व तथा उनके नारे और कारनामों में विरोधाभास रहा परन्तु कवि की वाणी में वही पौरुष पाया गया जो भूषणा की भेरी में है । दिनकर मूलतः बिप्लव के कवि हैं, भले ही उन्होंने सक्रिय विप्लव नहीं किया हो और इसलिये बालकृष्ण शर्मा नवीन का भेतविहीन, आत्मसत और ? एकाकार कवित्व एवं राष्ट्र नेतृत्व इनमें न रहा हो, इनमें वह मौलिकता भी नहीं जो साखनलाल, नवीन या हरिश्चन्द्र में है परन्तु आह्वान करने में वे आग्रणी रहे । क्षितिज के उस पार का आकर्षण उनमें भी रहा है, "द्वंद्वगीत" "रेणुका", "रसवंती" में मानवीय गुणधियों को सुलभाने का प्रयास भी है, श्री, सौंदर्य, के प्रति राग भी, परन्तु दिनकर में, अतीत की ज्योति और त्याग के स्तम्भों को प्रकाशित करने, जंजीर में जकड़ी पीढ़ी को प्रेरित करने तथा शोषणा उत्पीड़न से होड़ लेने को बाध्य करने की विह्वल आकांक्षों हैं, 'आज न उड्डु के नील कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी' वाली जागरूकता है, हिमालय, प्रताप का जयघोष है । शैली और वस्तु-विषय का जितना सहवास इनमें हुआ, उतना बहुत कम कवियों में । प्रेणीयता कहीं भी शिथिल नहीं, चेतना में ओज, व्यंजना में भी ओज, रस में यदि वीर रस, तो इसके आस्वादन करामे में भी सबल शब्दों का प्रयोग । गुप्त की 'भारत-भारती', प्रसाद की 'हिमालय के आंगन में', पंत की 'भारत माता, प्रमवासिनी', नेपाली की 'नवीन', सुभद्राकुमारी की 'आंसी की रानी', नवीन की "उवलपुथल मवा देनेवाली तान" कृतियाँ, सनी दिनकर में विद्यमान हैं । यह सत्य है, प्रकातिवादी कहा जानेवाला यह कवि प्रयोगवादी नहीं हुआ, परन्तु युग-युग की राष्ट्रचेतनाओं की चीख और टीस दिनकर में ही एकाव और समय भी ही सभी । 'कुरुक्षेत्र' का कवि इसी परिचय के साथ ही आया ।

"कुरुक्षेत्र" में दिनकर अपनी संपूर्ण रशिनियों को लेकर प्रकट हैं । शोषणा के निवारण हेतु क्रांति की सार्थकता तथा व्यक्ति-व्यक्ति की कर्मठता के समर्थक दिनकर का भारतीय एवं प्रतिष्ठित पुरुषों के सहज प्रतीक वा द्वारा उद्गार है इस प्रबन्ध काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है । जिस प्रकार व्यक्ति के प्रति, उनकी पंक्ति 'तुन एक अनलकण हो केवल', पर चिनगारो बन विभीषिकठ उत्पन्न करने में सक्षम, आस्था दिखलाती है, जिस प्रकार दूसरी पंक्ति 'हटो व्योम के मेघ पंथ से दूध खोजने हम आते हैं, उनकी आगुतला दिशाँलाती है, उसी प्रकार "कुरुक्षेत्र" दिनकर की समस्त चेतनाओं को उपलब्ध करता है । दिनकर की कथा-वस्तु नवीन है, पर तृष्टि नहीं, संवाद नवीन है पर संदेश नहीं । यों तो इस काल के सभी कवियों में यह विह्वलता पायी जाती है, पंत की "उत्तर



1' यानोपाली की "नवीन" सभी विभोर कवियों की नवमानव समाज सम्बन्धी मान्यताओं के मूर्तीकरण के ही प्रयास हैं। विश्व युद्ध की भयानक लीलाओं से उद्भूत, साम्यवाद की द्रुत फलदायिनी सत्ता से आकर्षिक, भारत के वसुधैव कुटुम्बकम से आशान्वित, बुद्ध, गांधी के अहिंसा-धर्म से प्रभावित पीढ़ी सत्य के अन्वेषण में लीन थी। इसी पृष्ठभूमि में "कुरुक्षेत्र" का आविर्भाव हुआ। अगर दिनकर की धारणाओं में आलोतक-वर्ग ने संकीर्णा देखी, तो उसके कारण, तत्कालीनविचार धारा की सीमाओं को नहीं देखा। "भाकवद्गीत" में यदि अर्जुन और श्री कृष्णा की संशय-निदान-क्रिया है, जिसमें हमारे योग, दर्शन, संस्कृति, कर्म के निचोड़ निहित हो आते हैं, तो "कुरुक्षेत्र" में इसी सदी के दो सहारकारक युद्धों के शोकाकुल मानव का अनुभूण उद्गार। 'भगवद्गीता' का गूढ़ इसमें नहीं, न अभिव्यक्ति का सारभरा उत्कर्ष ही। कारण दिनकर की अपनी सीमाये हैं। मैं यह नहीं कहता कि "कुरुक्षेत्र" और "भागवद्गीता" विषय-गांभीर्य में तुल्य है, परन्तु यदि कोई दर्शन काव्यमय हो सकता है, तो इसकी दृष्टि से इन दोनों की विवेचना अभीष्ट है।

'भगवद्गीता' में इहलोक, परलोक, आत्मा, परमात्मा, योग तथा कर्म-ज्ञान का सूत्र दर्शन है, जिसमें यूद्ध केवल एक पार्श्व है, "कुरुक्षेत्र" का दर्शन समाज और नीति का हलका-सा दर्शन है, जिसमें युद्ध ही मूल है। परन्तु इसमें संदेह नहीं "कुरुक्षेत्र" एक दर्शन है, भले ही कवि स्वयं ऐसा स्वीकार करने में शरमाते से हैं। "कुरुक्षेत्र" की प्रथम पंक्ति ही, 'कौन रोता है इतिहास के अध्याय पर' उनकी वस्तु-स्थिति को स्पष्ट कर देती है, महाभारत की पृष्ठभूमे का सहारा कवि ने आरोपन की सहजता के हेतु ही लिया है, यदि वह लेकिन को भीष्म के बदले और गाँधी या इस सदी के किसी भी पुरुष को युधिष्ठिर के बदले अपने संबल के रूप में लेते, तो भी उनका कथय निखर सकते था। ऐसा करने से इतिहास के अध्यायों का वर्तमान मान से क्रम टूट सकता था, अधवा भाव-ऐश्वर्य में घाटा पड़ सकता था, परन्तु उनका प्रबन्ध-काव्य शिथिल नहीं हो पाता। क्रांति ने, साम्यावाद ने, विज्ञान ने, न्यु-यार्क की विश्व-संस्था ने, परमाणु बमों के भय ने, नव समाज-व्यवस्था ने, तीन सदियों से देशों के चित्र ही नहीं बदले हैं वरन मानवीय विचार-धाराओं में मूल परिवर्तन कर डाले हैं। इनसे अछूता रहकर कोई भी जीवित नहीं रहसकता। वेद, उपनिषद, भगवद्गीता, रामायण ने जिस तरह हनारी संतातियों को जीविन रक्खा है, उसी प्रकार विश्व की वहिमुखी और अन्तर्मुखी उथल-पुथलों में भी मनुष्य को एकसाध चकित, विस्मित, कातर एवं आशान्वित जीवित रक्खा है। यह निःसंदेह है कि इनका वह अन्तिम वाक्य अभी तक विश्व में घोषित नहीं हुआ जो "भगवद्गीता" से तुल्य हो, अतएव, काव्य कृतियाँ भी ज्ञान-प्राप्ति की दीप्ति से जगमगा नहीं सकती हैं। वहाभारत ककुहरे में भी दिनकर की युगीन समस्य ही दर्शित होती है।

आज की दुनिया विचित्र, नवीन

प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन

ऐर इसका ऐसा वर्णन कर,

हैं बँधे नर के करों में वारि, विद्युत, भाष,  
हुक्म पर चढ़ता उतरता है पवन का ताप ।  
हैं नहीं, बाकी कहीं - व्यवधान,  
लांघ सकता नर सरित, गिरि, सिन्धु, एक समान।

कवि कहता है :

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,  
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का तेश,  
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,  
प्राण में, करते दुखी हो देवता चीत्काल,

यह प्रश्न समस्त संसार के समक्ष गुरु बना हुआ है, बरट्रैन्ट रसल की बूढ़ काया भी इस प्रश्न का समाधान करने में लीन है, राजनीति के दाँव-पेंज इसी प्रश्न को लेकर खेले जा रहे हैं । संवेद-नशील सभी व्यक्ति यही कहते :

सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार  
तो इसे ते फेंक, तजकर मोह, स्मृति के पार ।

दिनकर को इस प्रश्न के समाधान में दो विचार-धारायें लुभा लेती : युद्ध की सार्थकता या अन्याय के प्रति तशोध की अनिर्वायता और साम्य की सम्यकता ।

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर,  
जब तलक हैं उठ नहीं चिनगारियों  
भिन्न स्वार्थों के कुलिस-संघर्ष की,  
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है ।  
शान्ति नहीं तब तक जब तक  
सुख-भाग न नर का सम हा,  
नहीं किसी को बहुत अधिक है,  
नहीं किसी को कम हो ।

इन विचार-धाराओं में विश्व भर की विगत तीन सदियों की ऐतिहासिक उपलब्धियों का जोर है तथा भारत की विपन्न श्रंखलाओं का भी अधीर प्रवाह। दिनकर की कुरुक्षेत्र-पूर्वी रचनाओं में इस प्रवाह का ही नाद रहा, अतएव, वह इनसे ऊपर उठ न सके। समाज और इतिहास ने उन्हें उठने भी न दिया। परन्तु "कुरुक्षेत्र" में वह परिणति भी हुई है, जो सभी युग-अष्टाओं की रचनाओं में होती, अर्थात्, नेराश्य से आशा, अंधकार से प्रकाश, असुन्दर से सुन्दर, प्राप्त का निर्देशन। इसलिए, अन्तिम पंक्तियाँ कहती :

आशा के प्रदीप को जलाते चलो धर्मराज,  
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,  
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,  
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,  
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और  
तेज न बढ़ेगा किसी मानव की जीत से,  
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,  
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

कड़वे यथार्थ की घूंट से ही मानव जी नहीं रकता। पाश्चात्य और भारतीय साहित्य-परम्पराओं का यह वैषम्य है कि जहाँ पाश्चात्य में यथार्थ का अवलोकन ही ध्येय रहा, उनका निदान पाठकों का दायित्व, अतएव, दुःखान्त रचनाओं का बहुल्य: वहाँ भारत में सुन्दर निष्कर्ष के हर्ष से काव्य सिंचित रहा, अतएव सुखान्त रचनाओं की शास्त्रीय निष्ठा। जहाँ पश्चिम में कवियों, नाटककारों, उपन्यासकारों ने यथार्थ के चाबुक से मानव को जागृत किया है, वहाँ हमारे साहित्यकारों ने मानव की चिरंतन आस्थाओं के रस से मानव को अमल, अजेय बनने को सक्षम किया। ये ही दाँ विपरीत धाराएँ मार्क्स और गाँधी में देखी गईं, यद्यपि दोनों की पहुँच एक ही स्थान, मानव-कल्याण पर ही हुई। इन दोनों को स्वत्व है पर लक्ष्य एक ही। "कुरुक्षेत्र" में न तो कोरा मार्क्सवाद है, न गाँधीवाद है, केवल अनुभूतियाँ और सत्यता भी प्रतिष्ठत हैं। "कुरुक्षेत्र" जितना सामयिक है, उतना दर्शन नहीं देता, परन्तु अपने विश्वास को, अपनी अनुभूति को, अपने निष्कर्ष के हर्ष को अवश्य मुखरित करता है। हयी उसकी सीमा है और यही उसका क्षेत्र भी है।

सौंदर्य का अवलोकन, विचारों का विश्वास, भावनाओं का अनुभव, ही ऐसे सहायक उपकरण हैं जिनसे किसी काव्य का जन्म होता है। चिंतन और भावना का ऐसा आवेग और सम्मिश्रण होता है कि इन्हें पृथक् करना असम्भव होते भी अन्योन्याश्रित होने हैं। इन दोनों की क्रियाशील स्थिति में आवेग रहता है। वही आवेग अपना प्रकटीकरण ढूँढ़ता है भाषा में। तब ही सत्यम शिवम सुन्दरम चरितार्थ होता है : किसी भी रचना में, ललितकला के किसी भी रूप में, रचनाकार की अनुभूते और कल्पना, मस्तिष्क और हृदय की क्रियाशीलता हो घुल-मिलकर रूप लेती है। इसकी आनन्दानुभूति अपनी होती है, केवल सुख के लक्षाओं को ही प्राप्त कर नहीं, दुख की विषम स्थिति को भी प्राप्त कर। जो रचनाकार जितनी ही मात्राओं से इस आनन्दानुभूति को व्यक्त कर, दूसरों को

प्रेषित करता है, उतना ही वह प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रभाव की भिन्न संज्ञाये हैं : हमारे यहां रस, कहीं संदेश, उपदेश, निर्देश। कबीर के पद्य और "भागवद्गीता" दोनों ही काव्य रचना के उत्कृष्टतम दृष्टांतों में इसी अनंदानुभूति के कारण उल्लेख्य हैं।

"कुरुक्षेत्र" में, संवेदना है और गवेषण भी, ज्ञानी के मस्तिष्क का चमत्कार तथा शंकाकुला हृदय का उद्गार भी, दर्शन का तर्क भी और अनुभूति का सत्य भी। उसकी व्यंजना का आधार है, इतिहास, महाभारत का और बासमी सदी का इतिहास, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद के अनुरूप युधिष्ठिर और भीष्म का वाद-विवाद। "कुरुक्षेत्र" के भीष्म और युधिष्ठिर ठीक-ठीक महाभारत के ही युधिष्ठिर और भीष्म ही नहीं हैं, कवि के द्वापर युग की स्वाभाविकता के निर्वाह के बाबजूद। दिनकर की व्यंजना शैली रुढ़ि-पालिनी है। मुक्तक न रहे, इसलिये प्रबन्ध का रूप कवि ने "कुरुक्षेत्र" को दिया और इसलिए युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाया। इसकी प्रेरण "अशोक का निर्वेद" भी है। युद्ध, शांति की 'मोटी बातों' से काव्य पूरा किया गया। कवि का कथ्य एक मुक्तक में भी उत्तर सकता था, परन्तु इसके लिए कवि को काव्य की वैसी निष्ठा और सिद्धि चाहिये थी जो "भगवद्गीता" में ही या वह क्षमता अपेक्षित थी जो कुछ ही शब्दों में बहुत कह जाने की क्षमता दोहों और चोबाइयों में मिलती है। दिनकर की काव्य-धारा सदैव विस्तारमयी रही है, उनके गीतों में भी विस्तार ही रहा है। इतिहास के ज्योतिर्मय करने में रत इस कवि ने कथावादी प्रणाली की ही सामर्थ्य पायी। सुभद्राकुमारी चौहान की "झांसी की रानी" का साभीष्य इनकी रचनाओं में है, 'एक भारतीय आत्मा' की 'फूल की अभिलाषा' का सामीप्य इनमें नहीं। अतएव, मुक्तक से प्रबन्ध, वर्तमान से इतिहास के अध्यायों की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही था। युद्ध विना शकारी है, युद्ध अनिवार्य भी है, समता अभीष्ट है, इन पक्षों को जितना प्रेषित कवि कर सका, उतना अनीति, रणनीति त्याज्य है और एक दिन प्राति से धरती स्वर्गमयी होगी, का पक्ष नहीं, इसलिए आलोचकों को यह प्रभावित भी न कर पाया। परिणति की पराकाष्ठा कवि पूर्णतः चित्रित न कर पाया, "आशा के प्रदीप" और 'स्वर्ग' शब्द इस निष्कर्ष के आनंदातरेक को पहुँचाने में सक्षम न हुये। दिनकर के प्रतीक हैं, प्रभात, किरण, ज्वाला, जिनका सतत अंकन "कुरुक्षेत्र" में हुआ। पार्थिव की प्रगति से, आकाश नहीं मिट्टी के जीवन से प्रेरित दिनकर ने जहाँ भी जाहा, वहाँ प्रभाव उत्पन्न किया है। तृतीय, चतुर्थ और अंतिम दो सर्गों में कवि का कथ्य असंदिग्ध और स्पष्ट है। षष्ठ सर्ग में, जिसमें तथाकथित मस्तिष्क है, कवि के चाबुक को तथाकथित हृदय पर स्पर्श कराना काव्य का उच्चतम तकाजा है। इस परीक्षण में दिनकर करते हैं। षष्ठ सर्ग "कुरुक्षेत्र" के काव्य की सभी सामाग्रियों को प्रस्तुत कर देता है। दिनकर के गुण हैं, ओज, भाव विचार दोनों उदात्त, व्यक्तकरण में अनुकूलतः उदात्त, प्रवाह, जो इनमें द्विवेदी कालीन लय और उर्दू की खानी का विकाल है तथा प्रेरण-क्षमता, जिसमें भाषा का और प्रतीक का स्वप्न तथा तंद्राओं से परे प्रयोग है। "कामायिनी" का घनत्व इसमें नहीं, परन्तु युग की भाव-विचार रहगों की समष्टि है और यह हिन्दी काव्य की एक विशिष्ट उपलब्धि अवश्य है।

"नये पत्ते" : "इत्लम" हिन्दी काव्य की नई दिशाओं के संकेत हैं। विज्ञान में भी प्रयांग सभी अन्वेषण और अविष्कार का जनक होता है। साहित्य में भी प्रयोग वांछित प्रभाम का उत्पादक होता है, परन्तु विज्ञान और साहित्य दोनों में प्रयोग की सार्थकता उसके फल में देखी जाती है, न कि उसकी विलक्षणता या नूतनता में ही। भाषा वह भूमि है जिसके अन्तस्तल में अनेक अमूल्य पदार्थ हैं और सफल साहित्यकार की पैठ उतनी ही व्यग्र होती है जितनी खनिज पदार्थ के अन्वेषी की। निराला आरम्भ से अंत तक अन्वेषी रहे, भाषा की प्रेषण क्षमता को आत्मासात करने में थके नहीं जिसके कारण उनकी कवितायें प्रत्येक अवस्था में प्रभावकारिणी रहीं। लय और शब्द, बोल की गति में कभी विराम न आया, जब कि उनके साथी अपने-अपने पड़ाव ढूँढकर ठहर गये। अज्ञेय निराला के उन विरल साथियों में है जिन्होंने भी न विराम जाना, न पड़ाव ही पाया है, वल्कि स्वयं अथक

रहते हुए अन्य सहकर्मियों की भीजुटाकर अग्रसर होते रहे, तार-शप्तक के संपादक अज्ञेय की तीखी बातों की यही मनोवैज्ञानिक भूमिका भी है। "इत्यलम" अथवा "हरी घास पर क्षण भर" में, अज्ञेय वही करते और कहते और करते हैं। परन्तु अज्ञेय और निराला में अन्तर है : अज्ञेय अपने प्रयोगों की अभिनवता के आप हिमायती हैं, अतएव, अधीर, असह्य, और एक वाद के प्रचकर निराला संकेत कर ही रह जाते हैं, प्रयागों के का मूल्यांकन पाठकों पर छोड़कर संतोष करते और अतएव हिन्दी कविता में